आरक्षित करने की तिथि– 12.03.2021
उद्घोषित करने की तिथि– 01.04.2021

<u>उत्तराखण्ड उच्च न्यायालय, नैनीताल।</u>

रिट याचिका संख्या 170/2018 (एम/एस)

राजेश साह व अन्य..... याचिकाकर्ता।

बनाम

उत्तराखण्ड राज्य द्वारा कलेक्टर नैनीताल व अन्य ..... प्रतिवादी

अधिवक्ताः– श्री महावीर सिंह त्यागी, याचिकाकर्ताओं के वरिष्ठ अधिवक्ता।
श्री अजय सिंह बिष्ट, राज्य के अतिरिक्त मुख्य स्थायी अधिवक्ता, उत्तराखण्ड।

<u>मान्नीय शरद कुमार शर्मा, न्यायाधीश</u>

वर्तमान रिट याचिका के संक्षिप्त तथ्य यह हैं कि याचिकाकर्ता 21.06 हेक्टेयर भूमि के मालिक होने का दावा करते हैं, जिसके बारे में दावा किया गया था कि वह गांव चकमोती बाग, तहसील नैनीताल में स्थित है। इस कार्यवाही में, जो वन अधिनियम के तहत वन बन्दोबस्त अधिकारी के समक्ष आयोजित की गयी थी, जैसा कि वन अधिनियम की धारा 2 की उपधारा (2) के तहत परिभाषित है, याचिकाकर्ताओं का एक विशिष्ट मामला यह है कि उन्हें राजस्व रिकॉर्ड में भूमि के मालिक के रूप में दर्ज किया गया है और इसके समर्थन में, याचिकाकर्ताओं ने 1420 से 1425 फसली से संबंधित भूमि की खतौनी को रिकॉर्ड में प्रस्तुत किया था और जिसके बल पर याचिकाकर्ताओं का तर्क है कि चूंकि वे संबंधित सम्पत्ति के दर्ज मालिक हैं, वे पर्याप्त मुआवजे के भुगतान के हकदार होंगे, जैसा कि भारतीय वन अधिनियम,1927 की धारा 11 के प्रावधानों के तहत निपटान अधिकारी द्वारा निर्धारित किये जायेंगे।

2. एक अधिसूचना, अधिसूचना संख्या 6119/14–2–93–4(14) 92 दिनांक 25–06–19993 प्रतिवादी राज्य द्वारा 1927 के भारतीय वन अधिनियम की धारा 4 के तहत निहित प्रावधानों को लागू करके भूमि को आरक्षित वन के रूप में घोषित करने के आशय से जारी की गयी थी, जिसमें याचिकाकर्ताओं की भूमि भी शामिल थी, जो कि अधिग्रहित आरक्षित वन का हिस्सा थी। भूमि को आरक्षित वन घोषित करने के राज्य के आशय के परिणामस्वरूप और जिसमें वह भूमि भी शामिल थी, जो याचिकाकर्ताओं के नाम दर्ज की गई थी, वन बन्दोबस्त अधिकारी ने भारतीय वन अधिनियम 1927 की धारा

6 के तहत निहित प्रावधानों को लागू करके एक उद्घघोषणा जारी की थी, और दिनांक 10–07–1995 को उक्त आशय की अधिसूचना जारी करके भूमि मालिकों से अधिसूचना के परिणामस्वरूप, जो अधिनियम की धारा 6 के तहत जारी की गई थी, आपत्तियां आमंत्रित की थी। दिनांक 25–06–1993 को जारी अधिसूचना के अनुसरण में, आरक्षित वन की घोषणा के लिये धारा 4 के तहत राज्य के प्रस्ताव के खिलाफ याचिकाकर्ताओं से आपत्ति मांगी गई थी। अधिनियम के रिकॉर्ड से पता चलता है कि याचिकाकर्ताओं ने वन बन्दोबस्त अधिकारी के समक्ष अपनी आपत्ति दर्ज की थी और परिणामस्वरूप, याचिकाकर्ताओं की भूमि को आरक्षित वन घोषित करने के लिये उपर्युक्त अधिग्रहण कार्यवाही के संबंध में, यह केस संख्या 37 1995–1996 के रूप में दर्ज किया गया था, जैसा कि ऊपर बताया गया है और वन अधिनियम, 1927 की धारा 16 के अनुसार रूपान्तरण के लिये आगे बढ़ने के लिये भारतीय वन अधिनियम, 1927 की धारा 16 है। भारतीय वन अधिनियम, 1927 की धारा 16 निम्नलिखित हैः–

> ''16. अधिकारों का संराशीकरण– यदि वन बंदोबस्त अधिकारी को आरक्षित वन के रखरखाव को ध्यान में रखते हुये धारा 15 के तहत ऐसा बंदोबस्त करना असंभव लगता है, जिससे उक्त अधिकारों का उस सीमा तक निरंतर प्रयोग सुनिश्चित हो सके स्वीकार किया गया, वह ऐसे नियमों के अधीन, जो राज्य सरकार इस संबध में बना सकती है, ऐसे व्यक्तियों को उनके बदले में धनराशि का भुगतान करके, या भूमि अनुदान द्वारा, या ऐसे अन्य तरीके से, ऐसे अधिकारों को परिवर्तित कर देगा। जैसा वह उचित समझे।''

3. मुआवजे के निर्धारण के प्रयोजनों के लिये धारा 16 के तहत वन बंदोबस्त अधिकारी के समक्ष कार्यवाही, जिसे याचिकाकर्ता आरक्षित वन की घोषणा के लिये, अपनी सम्पत्ति के अधिग्रहण के परिणामस्वरूप, उत्तरदाताओं से प्राप्त करने के हकदार थे, कार्यवाही गुण–दोष के आधार पर तय की गई और परिणामस्वरूप, 08–06–2016 के आदेश द्वारा, जैसा कि 1995–96 के केस नम्बर 37 में प्रस्तुत किया गया था, वन बंदोबस्त अधिकारी ने वन अधिनियम की धारा 11(2)(ii) के अन्तर्गत निहित प्रावधानों के आलोक में विवाद को तय करने के लिये एक संदर्भ दिया गया था, जो याचिकाकर्ताओं के साथ–साथ उत्तरदाताओं और उसके बीच समझौते का आधार था। धारा 20 के अनुसार निर्णय लेने हेतु संदर्भित किया गया था। वन अधिनियम की धारा 11(2)(ii) निम्नलिखित हैः–

> ''11(2) (ii) यदि ऐसा दावा पूर्ण या आंशिक रूप से स्वीकार किया जाता है, तो वन बंदोबस्त अधिकारी करेगा।

4. संदर्भ के अनुसार, जो 08–06–2016 को किया गया था, वन बंदोबस्त अधिकारी ने अपने पत्र संख्या 2239/आर0ए0–आख्या/2016 दिनांक 10–06–2016 के माध्यम से संयुक्त सचिव, राज्य को पत्र लिखकर मुआवजे के निर्धारण के प्रयोजनों के लिये इसके द्वारा लिये गये निर्णय के बारे में सूचित किया था, जो अधिनियम, 1927 की धारा 4 सपठित धारा 6 और 11(2)(iii) के अनुसार याचिकाकर्ताओं को देय होना था, उसकी निरन्तरता में, और संदर्भ जो राज्य सरकार को किया गया था, उत्तराखण्ड राज्य प्रशासन के संयुक्त सचिव ने अपने संचार 1690/एक्स–2–2016–15(29)/2002 दिनांक 18–07–2016 के माध्यम से मुख्य वन संरक्षक को मुआवजे की पर्याप्ता के निर्धारण के प्रयोजनों के लिये लिखा और मुख्य वन संरक्षक के साथ किये गये उक्त पत्राचार के साथ, उन्होंने अपने फैसले को उचित ठहराने के लिये 08.06.2016 के फैसले की प्रति भी संलग्न की है, जिसके द्वारा वन बंदोबस्त अधिकारी द्वारा याचिकाकर्ताओं को निर्धारित और देय मुआवजे पर पहुंचा गया था एवं जो उचित था तथा उनके द्वारा अधिनियम की धारा 11(2)(ii) के अन्तर्गत निर्धारित किया गया है ।

5. मुआवजे के निर्धारण की इस प्रक्रिया के दौरान, जो भारतीय वन अधिनियम की तहत याचिकाकर्ताओं को देय होना निर्धारित किया गया था, और अधिनियम की धारा 20 के तहत दावे पर निर्णय लेने के लिये की जाने वाली कार्यवाही के अनुसरण में और जब संदर्भ राज्य सरकार को बताया गया था, रिट याचिका में याचिकाकर्ताओं के तर्क के अनुसार, याचिकाकर्ताओं ने 06.12.2016 को उत्तराखण्ड राज्य के सचिव को एक अभ्यावेदन प्रस्तुत किया था, जिसमें तर्क दिया गया था कि इस संबंध में मुआवजे के पर्याप्त भुगतान हेतु धारा 20 के तहत निहित प्रावधानों के आलोक में उचित निर्णय लिया जाना चाहिये और यह विशेष रूप से उस निर्धारण पर आधारित नहीं होना चाहिये, जो 08.06.2016 को वन बंदोबस्त अधिकारी द्वारा किया गया है। 06. 12.2016 के उपरोक्त अभ्यावेदन के अलावा, याचिकाकर्ताओं ने 18.05.2017 को प्रमुख सचिव, वन और पर्यावरण के समक्ष भी एक अभ्यावेदन दायर करके उचित और पर्याप्त मुआवजे के अनुदान और निर्धारण के लिये अपना दावा प्रस्तुत किया है। याचिककाकर्ताओं ने अपने अभयावेदन में, जो 18.05.2016 को प्रमुख सचिव, वन एवं पर्यावरण को प्रस्तुत किया था; अपने दावे के समर्थन में कुछ दस्तावेज भी संलग्न किये थे, जो उन्हें एक आवेदन पर दिये गये थे, जिसे याचिकाकर्ताओं ने सूचना का अधिकार अधिनियम की धारा 6 के तहत दायर किया था, जिसमें उन्होंने याचिकाकर्ताओं के अभ्यावेदन पर लिये गये निर्णय के संबंध में जानकारी प्रदान करने के लिये प्रार्थना की है, और मुआवजे के उचित निर्धारण के प्रयोजनों के लिये उत्तरदाताओं द्वारा कौन से पैरामीटर अपनाये गये हैं, जो याचिकाकर्ताओं ने भारतीय वन अधिनियम,1927 की धारा 20 के तहत प्राप्त करने का हकदार होने का दावा किया।

6. याचिकाकर्ताओं ने रिट याचिका में मामला उठाया था कि सूचना का अधिकार अधिनियम की धारा 6 के तहत उनके आवेदन के जवाब में, वन विभाग के विभागीय सूचना अधिकारी ने 24.07.2017 के अपने संचार के तहत, अवर सचिव के प्राधिकार ने एक संचार पत्र संख्या **1188/X-2/2017-15(29)/2017** जारी किया है, जिसके साथ ही डीओ पत्र भी संलग्न किया गया है, जिसमें दिखाया गया है कि उपरोक्त संचार और संदर्भ पहले से ही हैं। उपरोक्त दिनांक 18.07.2016, 10.02.2017, 24.07.2017 को निपटाते हुये, 08.06.2016 को किये गये मुआवजे के निर्धारण को उचित निर्धारण माना गया।

7. जहां तक याचिकाकर्ताओं का सवाल है, वे मुआवजे के निर्धारण की सत्यता का खंडन या अखंडन नहीं करते हैं, जो वन बंदोबस्ती अधिकारी के 08.06.2016 के आदेश द्वारा किया गया था, लेकिन जहां तक वर्तमान रिट में उनकी शिकायत है याचिका का संबंध है, यह उस हद तक सीमित है कि अपील, जो राज्य द्वारा वन अधिनियम की धारा 17 के तहत 08.10.2017 को जिला न्यायाधीश, नैनीताल के समक्ष दायर की गयी थी, क्योंकि यह अत्यधिक देर से की गयी अपील थी, जो धारा 17 के तहत प्रस्तुत की गयी थी, हालांकि इसके साथ धारा 5 परिसीमा अधिनियम के अंतर्गत देरी माफी के लिये एक आवेदन भी शामिल था, राज्य द्वारा अपील दायर करने में हुई एक वर्ष और चार महीने की देरी की माफी की मांग की गई। परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के तहत उक्त आवेदन, जिसे विविध केस नम्बर 116/2017 के रूप में पंजीकृत किया गया था। उक्त आवेदन पर याचिकाकर्ताओं को नोटिस जारी किये गये थे, जिस पर याचिकाकर्ताओं ने 10.10.2017 को विलम्ब माफी पर अपनी आपत्ति दर्ज की थी। इस प्रकार याचिकाकर्ताओं द्वारा विलंब माफी आवेदन पर दायर की गई आपत्ति में, निम्नलिखित प्रारंभिक आपत्तियां उठायी गयी हैंः–

(i) एक बार कानून, अधिनियम की धारा 17 के तहत, केवल तीन महीने के भीतर अपील की प्राथमिकता पर विचार करता है या स्वतंत्रता देता है, उस स्थिति में, उपरोक्त की समाप्ति के बाद, राज्य द्वारा अपील शुरू नहीं की जा सकती थी अवधि, जो 1927 के अधिनियम के अपीलीय प्रावधानों के तहत स्वतः निहित थी।

(ii) जहां तक 1927 के वन अधिनियम के तहत निहित अपीलीय प्रावधानों का उत्तर प्रदेश राज्य में इसकी प्रयोज्यता का संबंध है, धारा 17 जैसा कि इसमें लागू किया गया है, इस प्रकार हैः–

> ''17. धारा 11, धारा 12, धारा 15 या धारा 16 के तहत पारित आदेश के खिलाफ अपील–कोई भी व्यक्ति, जिसने इस अधिनियम के तहत दावा किया है, या कोई वन अधिकारी या अन्य व्यक्ति जो आम तौर पर या विशेष रूप से राज्य सरकार द्वारा इस संबंध में सशक्त है। वन बंदोबस्त

अधिकारी द्वारा ऐसे दावे पर धारा 11, धारा 12, धारा 15 या धारा 16 के तहत पारित आदेश की तारीख से तीन महीने के भीतर, ऐसे आदेश के खिलाफ जिला न्यायाधीश के पास अपील प्रस्तुत करें।

स्पष्टीकरण– इस धारा में और इस अध्याय के आगामी खंड में, 'जिला न्यायाधीश' का अर्थ उस जिले का जिला न्यायाधीश है, जिसमें भूमि स्थित है, और इसमें एक अतिरिक्त जिला न्यायाधीश भी शामिल है, जिसे जिला न्यायाधीश द्वारा अपील स्थानांतरित की जाती है। ''(1965 के उत्तर प्रदेश अधिनियम 23 की धारा 5 के अनुसार)

(iii) सैद्धांतिक रूप से प्रावधान 1965 के यूपी संशोधन अधिनियम संख्या 23 द्व ारा लागू किये गये हैं; यदि इसे ध्यान में रखा जाता है, तो इसमें अधिनियम की धारा 11, 12 और 15 या धारा 16 के तहत पारित आदेशों के खिलाफ अपील करना शामिल है। इसलिये, उस प्रावधान का अर्थ सीमा की अवधि, जो कि आदेश की तारीख से तीन महीने के लिये निर्धारित है, इसका वैधानिक रूप से मतलब सीमा की अवधि होगा क्योंकि इसे वास्तविक या रचनात्मक नोटिस की तारीख से निर्धारित किया जाना है, जैसा कि अधिनियम के तहत अपील की प्राथमिकता में, सीमा के पहलू को निर्धारित करने के प्रयोजनों के लिये विचार किया जाना चाहिये।

8. अधिनियम की धारा 18 के तहत अपील पर निर्णय लेने के लिये अपनाये गये तौर–तरीकों को एक बार फिर से यूपी संशोधन अधिनियम संख्या 23, 1965 के आधार पर उत्तर प्रदेश राज्य में स्पष्ट रूप से लागू किया गया है, जो पुर्नगठन अधिनियम की धारा 87 के तहत निहित प्रावधानों के अनुसार उत्तराखण्ड राज्य में भी लागू होगा।

9. जिस तरीके से, अपील को प्राथमिकता दी जानी है और जिला न्यायाधीश द्वारा निर्णय लिया जाना है, और जहां यह जिला न्यायाधीश को रिमांड की शक्ति भी प्रदान करता है, वहां यह माना जायेगा कि जिला न्यायाधीश जो मामले की सुनवाई कर रहा है, धारा 17 के तहत एक अपील, जिसे धारा 18 के तहत निहित प्रावधानों के अनुसार प्राथमिकता दी गई है; इसमें न्यायालय/न्यायाधिकरण के सभी प्रावधान हैं और इस प्रकार सीमा अधिनियम की धारा 29 के तहत प्रदान की गई सीमा अधिनियम की बचत लागू होगी। धारा 18 जैसा कि यह उत्तराखण्ड राज्य पर लागू होता है, इस प्रकार है:

''18. धारा 17 के तहत अपील–(1) धारा 17 के तहत प्रत्येक अपील लिखित रूप में याचिका द्वारा की जायेगी और वन बंदोबस्त अधिकारी को दी जा सकती है, जो इसे बिना देरी किये जिला न्यायाधीश को अग्रेषित करेगा।''

(2) जिला न्यायाधीश, पक्षों को सुनवाई का अवसर देने के बाद, अपील के तहत आदेश की पुष्टि, रद्द या संशोधित कर सकता है या मामले को वन बंदोबस्त अधिकारी को ऐसे निर्देशों के साथ भेज सकता है जो वह उचित समझे।

(3) अपील के लंबित रहने के दौरान, जिला न्यायाधीश, पर्याप्त कारण के लिये, ऐसी शर्तों पर, यदि कोई हो, जो वह उचित समझे, अपील किये गये आदेश के संचालन पर रोक लगा सकता है और कोई आकस्मिक या परिणामी आदेश पारित कर सकता है।

(4) अपील पर पारित आदेश, धारा 22 के प्रावधानों के अधीन, अंतिम होगा।'' (1965 के यूपी अधिनियम 23, एस 6 के तहत)

10. याचिकाकर्ताओं ने अपनी आपत्ति में एक विशिष्ट दलील दी है कि विविध केस नम्बर 116/2017 का पंजीकरण, जो राज्य द्वारा लिमिटेशन एक्ट की धारा 5 के साथ दायर किया गया था, जिसमें देरी की माफी की मांग की गई थी, इस कारण से मान्य नहीं था क्योंकि कार्यवाही, ऐसी कार्यवाही जो एक विशेष कानून के प्रावधान यानी 1927 के अधिनियम द्वारा विनियमित थी और एक बार अधिनियम ने स्वंय परिसीमा अधिनियम के प्रावधानों को लागू नहीं किया है। अतः उनका मामला था कि परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के प्रावधान उत्तरदाताओं के लिये उपलध नहीं थे। उन्हें परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के तहत विलम्ब क्षमा प्रार्थनापत्र दायर करने के लिये योग्य बनाने हेतु, अपील के साथ, जो अधिनियम की धारा 17 के तहत उनके द्वारा प्रस्तुत की गई थी और इसलिये, उनका तर्क यह है कि विलंब माफी आवेदन, जैसा कि 1927 के अधिनियम की धारा 17 के तहत अपील के साथ उत्तरदाताओं द्वारा प्रस्तुत किया गया था पर मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निर्धारित और परिसीमा के सामान्य सिद्धान्तों और अनुपात को लागू करके, विचार नहीं किया जा सकता था, जिसमें यह देरी की माफी के विचार के प्रयोजनों के लिये न्यायिक प्रक्रियाओं में उदार दृष्टिकोण अपनाने की धारणा को नियंत्रित कर रहा था।

11. इसके जवाब में, उत्तरदाताओं के विद्वान अधिवक्ता ने प्रस्तुत किया था कि यह विवाद में नहीं है कि यदि वन अधिनियम की धारा 4 को अधिनियम़ की धारा 6 और पैरामीटर के साथ पढ़ा जाता है, जो धारा 11 के अंतर्गत अधिगृहित की जाने वाली भूमि के मुआवजे के निर्धारण के उद्देश्य के लिये है, यह भूमि के प्रयोजन के लिये मुआवजे के निर्धारण को बताता है एवं आरक्षित वन के रूप में घोषित करने के लिये लिया गया है। इस प्रकार व्यावहारिक रूप से यह एक नागरिक के नागरिक अधिकार का निर्धारण है, और इसलिये, उन्होंने कहा कि ऐसी स्थिति में, जहां अधिनियम सीमा अधिनियम के प्रावधानों की प्रयोज्यता के संबंध में चुप है और विशेष रूप से धारा 5 के

लिये ऐसी स्थिति में सीमा अधिनियम की धारा 29(2) के तहत बचत खण्ड लागू होगा और उस स्थिति में, उत्तरदाताओं का तर्क है कि अपील में देरी की माफी के लिये उनका आवेदन 1927 के अधिनियम की धारा 17 के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है, मान्य होगा और अधिनियम के तहत अपील में विद्वान जिला न्यायाधीश द्वारा इस पर सही ढंग से विचार किया गया है और इसे माफ कर दिया गया है। इसके अलावा यह भी कि वन अधिनियम, 1972, विशेष रूप से अधिनियम के तहत एक बहिष्करण खंड के एक विशिष्ट समावेश द्वारा, सीमा अधिनियम की प्रयोज्यता को बाहर नहीं करता है, इस प्रकार परीसीमा की धारा 29 का यह प्रावधान अधिनियम की धारा 17 के उपर लागू होगा।

12. विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता श्री महावीर सिंह त्यागी ने विद्वान अतिरिक्त मुख्य स्थायी अधिवक्ता श्री अजय सिंह बिष्ट द्वारा प्रस्तुत तर्को का खण्डन करते हुए तर्क प्रस्तुत किया था कि उत्तरदाताओं के लिए अधिवक्ता द्वारा विलंब क्षमा की अवधारणा के विस्तार के उद्देश्य दिये गये तर्क, जिसे आम तौर पर परीसीमा अधिनियम की धारा 29(2) के तहत प्रदान किए गए बचत खंड के तहत लागू करने पर विचार किया गया है, वर्तमान परिस्थितियों में परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) की भाषा के कारण लागू नहीं होगा, जो यहां नीचे दी गई हैः–

> ''29(2) जहां कोई विशेष या स्थानीय कानून किसी मुकदमे, अपील या आवेदन के लिए अनुसूची द्वारा निर्धारित अवधि से भिन्न सीमा अवधि निर्धारित करता है, धारा 3 के प्रावधान इस तरह लागू होंगे जैसे कि ऐसी अवधि अनुसूची द्वारा निर्धारित अवधि थी और किसी विशेष या स्थानीय कानून द्वारा किसी मुकद्मे, अपील या आवेदन के लिए निर्धारित सीमा की अवधि निर्धारित करने के प्रयोजन के लिए, धारा 4 से 24 (समावेशी) मैं निहित प्रावधान केवल उसी हद तक और सीमा तक लागू होगे। उन्हे ऐसे विशेष या स्थानीय कानून द्वारा स्पष्ट रूप से बाहर नहीं रखा गया है।

13. परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) का उपरोक्त अपवाद खण्ड केवल तभी लागू होगा जब कार्यवाही न्यायालयों द्वारा की जा रही हो, क्योंकि धारा 17 में उल्लेखित जिला न्यायाधीश, न्यायालय की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आयेंगे। इसलिये उनके अनुसार परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) वर्तमान मामलें की परिस्थियों पर लागू नहीं होगी।

14. उनका कहना है कि यदि उपरोक्त प्रावधान को ध्यान में रखा जाए तो उपरोक्त प्रावधान केवल उन्ही कार्यवाहियों मे लागू किये जायेगे। जिनमे परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के प्रावधान लागू नहीं किये गये हैं, और उन कार्यवाहियों में जो

न्यायालय के समक्ष अवधारित है। विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा जो अन्तर बताया गया है, वह यह है कि परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) का बचाव केवल उन्हीं मामलों में लागू किया जायेगा, जहां कार्यवाही ''न्यायालय'' के समक्ष की जा रही है और विशेष रूप से वन अधिनियम, 1927 के तहत मामले में जहां परिसीमा अधिनियम की धारा 17 के तहत प्रदान की गयी अपील विद्वान जिला न्यायाधीश के समक्ष की जाती है। विद्वान जिला न्यायाधीश को उत्तरदाताओं को परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2) की उपधारा (2) के अंतर्गत बचाव के लिये रूप में नहीं माना जायेगा। इसलिये, उनका तर्क है कि जब तक वन अधिनियम की धारा 17 के तहत प्रदान किये गये अपीलीय फोरम को स्वंय ''न्यायालय'' न माना जाये, तब तक धारा 29(2) का लाभ उत्तरदाताओं को 1927 के अधिनियम की धारा 17 के तहत जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील दायर करते समय नहीं दिया जा सकता है। जिला न्यायाधीश ''न्यायालय'' के रूप में कार्य नहीं कर रहा है, इसलिये धारा 29(2) लागू नहीं होगी।

15. अपने तर्क के समर्थन में पक्षकारों के अधिवक्ता ने मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रदान किये गये विभिन्न निर्णयों के द्वारा उनके मामले का समर्थन किया है, जिन्हें यहां क्रमशः निपटायाा जा रहा है।

16. याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता ने अपने तर्क के समर्थन में कई निर्णयों का संदर्भ दिया है, जिन पर वह भरोसा करना चाहते हैं, अपने मामले को साबित करने के लिये, कि धारा 29(2) के तहत आश्रय राज्य को वन अधिनियम की धारा 17 के तहत विचाराधीन अपील की कार्यवाही में देरी की माफी के प्रयोजनों के लिये उपलब्ध नहीं था। इस आधार पर कि अधिनियम ने स्वंय परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के तहत निहित प्रावधानों को लागू नहीं किया है। उक्त अधिकरणों के क्रम में याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता द्वारा एक संदर्भ (2009) 5 सुप्रीम कोर्ट केस 791, सीमा शुल्क और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आयुक्त बनाम हांगो इंडिया प्राइवेट लिमिटेड और अन्य में दिये गये फैसले का है। विशेष रूप से उन्होंने इस न्यायालय का ध्यान उस तर्क की ओर आकर्षित किया है, जो मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय ने उक्त निर्णय के पैराग्राफ 5, 6, 7, 8, 19 और 20 में दिया है, जो यहां दिया गया हैः–

> ''5) धारा 35बी अपीलीय न्यायाधिकरण में अपील के बारे में बात करती है। केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आयुक्त या आयुक्त (अपील) द्वारा पारित कुछ निर्णयों/आदेशों से व्यथित कोई भी व्यक्ति उस तारीख से तीन महीने के भीतर अपीलीय न्यायाधिकरण में अपील कर सकता है। जिस आदेश के खिलाफ अपील करने की मांग की गई है, उसे संबंधित अधिकारी या दूसरे पक्ष को सूचित किया जाता है। उपधारा (5) अपीलीय न्यायाधिकरण

को निर्धारित अवधि से भी अधिक देरी को माफ करने में सक्षम बनाती है, यदि उस अवधि के भीतर इसे प्रस्तुत नहीं करने का पर्याप्त कारण हो।

6) धारा 35–ईई केन्द्र सरकार द्वारा संशोधन प्रदान करती है। उपधारा (2) के अनुसार, उपधारा (1) के तहत आवेदन संचार की तारीख से तीन महीने के भीतर किया जाना चाहिये। हालांकि, उपधारा (2) का प्रावधान पुनरीक्षण प्राधिकारी को पर्याप्त कारण दिखाये जाने पर नब्बे दिनों की अतिरिक्त अवधि के लिये देरी को माफ करने में सक्षम बनाता है।

7) असंशोधित धारा 35–जी उच्च न्यायालय में अपील के बारे में बताती है। उपधारा 2 (ए) पीड़ित व्यक्ति को उस तारीख से 180 दिनों के भीतर उच्च न्यायालय में अपील दायर करने में सक्षम बनाती है, जिस दिन केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आयुक्त या अन्य पक्ष द्वारा अपील किये गये आदेश प्राप्त होते हैं। 180 दिनों की निर्धारित अवधि से अधिक अपील दायर करने में देरी को माफ करने का कोई प्रावधान नहीं है।

8) असंशोधित धारा 35–एच उच्च न्यायालय में संदर्भ आवेदन के बारे में बताती है। उपधारा (1) के अनुसार, केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आयुक्त या अन्य पक्ष उस तारीख से 180 दिनों की अवधि के भीतर, जिस दिन उसे धारा 35 सी के तहत आदेश का नोटिस दिया जाता है, ट्रिब्यूनल को किसी भी प्रश्न को उच्च न्यायालय में संदर्भित करने का निर्देश देता है। न्यायाधिकरण के ऐसे आदेश से उत्पन्न कानून की, यहां फिर से से उपधारा (1) के अनुसार, संदर्भ के लिये आवेदन 180 दिनों के भीतर उच्च न्यायालय में किया जाना है और उच्च न्यायालय में आवेदन दाखिल करने की सीमा अवधि को उक्त अवधि से आगे बढ़ाने व विलम्ब को क्षमा करने का कोई प्रावधान नहीं है।

19) जैसा कि पहले बताया गया है कि धारा 35, 35बी, 35ईई, 35जी और 35एच में प्रयोग की गयी भाषा स्थिति को स्पष्ट करती है कि उच्च न्यायालय में अपील और संदर्भ केवल निर्णय के संचार की तारीख से या आदेश देने से 180 दिनों के भीतर किया जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में अन्य प्रावधानों में प्रयोग की गयी भाषा स्थिति को स्पष्ट करती है कि विधायिका का आशय अपीलीय प्राधिकारी को साठ दिनों की समाप्ति के बाद केवल तीस दिनों तक देरी को माफ करके अपील पर विचार करने का था, जो कि अपील को प्राथमिकता देने के लिये प्रारम्भिक सीमा अवधि है। निर्धारित अवधि के बाद पर्याप्त कारण दिखाकर देरी को माफी करने वाले किसी खण्ड के अभाव में परिसीमा अधिनियम की धारा 5 का पूर्ण

बहिष्कार है। इसीलिये उच्च न्यायालय का यह मानना उचित था कि 180 दिनों की निर्धारित अवधि की समाप्ति के बाद देरी को माफ करने की कोई शक्ति नहीं थी अन्यथा भी आयुक्त और अपीलीय न्यायाधीकरण के साथ साथ केन्द्र सरकार को संशोधन के लिये अपील दायर करने के लिये विधायिक ने क्रमशः साठ और नब्बे दिन प्रदान किये हैं, दूसरी ओर अपील दायर करने और संदर्भ के लिये उच्च आयुक्त और दूसरे पक्ष को इसका लाभ उठाने के लिये सक्षम बनाने के लिये न्यायालय को 180 दिनों की बड़ी अवधि प्रदान की गयी है। हमारा विचार है कि विधायिका ने उच्च न्यायालय में संदर्भ दाखिल करने के लिये पर्याप्त समय अर्थात 180 दिन प्रदान किया जो अपील और पुनरीक्षण के लिये निर्धारित अवधि से अधिक है।

20) हालांकि परिसीमा अधिनियम की धारा 29 के आधार पर एक तर्क उठाया गया था कि धारा 29 की उपधारा 2 आकर्षित होगी। हमे यह निर्धारित करना है कि क्या इस धारा के प्रावधानों को उच्च न्यायालय के संदर्भ के मामलों में स्पष्ट रूप से बाहर रखा गया है। हमारे सामने यह तर्क दिया गया था कि स्पष्ट रूप से बहिष्कृत शब्दों का मतलब यह होगा कि परिसीमा के विशिष्ट प्रावधानों के लिये विशेष या स्थानीय कानून में स्पष्ट संदर्भ होना चाहिये, जिसके संचालन को बाहर रखा जाना है। इस संदर्भ में हमे यहां विशेष कानून की योजना को देखना होगा। इस मामले में केन्द्रीय उत्पाद शुल्क अधिनियम उल्लेखनीय है। इसमें प्रदान किये गये उपाय की प्रकृति ऐसी है कि विधायिक का इरादा था कि यह अपने आप में पूर्ण संहिता हो, जो अकेले ही उसके प्रदान किये गये कई मामलों को नियंत्रित करे। यदि प्रारम्भिक प्रावधनों की जांच करने पर यह स्पष्ट है कि परिसीमा अधिनियम के प्रावधानों को आवश्यक रूप से बाहर रखा गया है, तो उसमें दिये गये लाभों को अधिनियम के प्रावधानों के पूरक के रूप में नहीं बुलाया जा सकता है। हमारे विचार में ऐसे मामलों में भी जहां विशेष कानून ने परिसीमा अधिनियम की धारा 4 से 24 के प्रावधानों को स्पष्ट संदर्भ द्वारा अपवर्जित नहीं किया है फिर भी यह जांच करने के लिये न्यायालय के लिये खुला होगा कि क्या और किस हद तक उन प्रावधानों की प्रकृति या विषय वस्तु की प्रकृति और विशेष कानून की योजना उनके संचालन को बाहर करती है। दूसरे शब्दों में परिसीमा अधिनियम के प्रावधानों की प्रयोज्यता परिसीमा अधिनियम की शर्तों से नहीं बल्कि उच्च न्यायालय में संदर्भ आवेदन दाखिल करने से संबंधित केन्द्रीय उत्पाद

शुल्क अधिनियम के प्रावधानों से तय की जानी चाहिये। केन्द्रीय उत्पाद शुल्क अधिनियम, 1944 की योजना इस निष्कर्ष का समर्थन करती है कि धारा 35एच (1) के अंतर्गत निर्धारित समय परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के तहत उच्च न्यायालय का संदर्भ देना न्यायालय द्वारा पूर्ण और अविस्तारित है। यह अच्छी तरह से स्पष्ट कानून है कि विधायी आशय का सम्मान करना न्यायालय का कर्तव्य है और उदार व्याख्या देकर अधिनियम की धारा 5 के प्रावधानों को लागू करके सीमा को बढ़ाया नहीं जा सकता है।

17. परिसीमा शुल्क आयुक्त (सुप्रा) के उपरोक्त मामले की पृष्ठभूमि, जिसके अन्तर्गत तब मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय सीमा की अवधि से संबंधित पहलू से निपट रहा था, जिसे धारा 35(बी) के तहत अपीलीय न्यायाधिकरण द्वारा निर्धारित किया गया था, केवल तीन महीने का था, यह एक संदर्भ आवेदन के संबध में था, जिसे केंद्रीय उत्पाद शुल्क अधिनियम, 1944 की एक असंशोधित धारा 35 (एच) के अन्तर्गत विलम्ब से दायर किया गया था। उपरोक्त मामले में, संदर्भ के लिये आवेदन पर, उच्च न्यायालय ने उस मामले में अपने सलाहकार क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया था, जहां सार्वजनिक महत्व का महत्वपूर्ण प्रश्न उन परिस्थितियों में विचार करने के लिये उच्च न्यायालय के समक्ष उठाया गया था। मुद्दा यह था कि क्या सभी मामले, जो सीमा शुल्क और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क आयुक्त द्वारा संदर्भित हैं, जिन्होंने उक्त मामले में धारा 35 एच (1) के तहत एक संदर्भ के माध्यम से उच्च न्यायालय, इलाहाबाद का में प्रस्तुत किया जाता था, क्या परिसीमा का अक्षांश थे, जो विशेष रूप से धारा 35 (बी) के अन्तर्गत निहित था; परिसीमा अधिनियम की धारा 29 (2) के तहत प्रदान किये गये सिद्धान्तों को आकर्षित करके किसी भी तरह से आकर्षित या विस्तारित किया जा सकता है। उसमें दिये गये सिद्धांत विशेष रूप से, जैसा कि निर्णय के पैरा 19 में संदर्भित है, यह एक निर्णय के आधार पर था, जो मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पोपलर कंस्ट्रक्शन कम्पनी जैसा कि (2001) 8 सुप्रीम में रिपोर्ट केसेस 470 के मामलों में दिया गया था, जिसमें परिसीमा की अवधारणा, जिस पर विचार किया जा रहा था, कार्यवाही के संबंध में 1963 के परिसीमा अधिनियम की प्रयोज्यता के संदर्भ में थी, जो सुलह मध्यस्थता अधिनियम 1996 की धारा 34 के तहत तैयार की गई थी, जैसा कि यह पोपलर कंस्ट्रक्शन कम्पनी केस (सुप्रा) में विचाराधीन था। उक्त मामले में, आवेदन को उच्च न्यायालय द्वारा इस आधार पर खारिज कर दिया गया था कि धारा 34 के तहत परिसीमा की बाधा है। 1996 का मध्यस्थता अधिनियम लागू होगा, उक्त मामले में डिवीजन बैंच ने अपील खारिज कर दी है और विद्वान एकल न्यायाधीश के निष्कर्ष को बरकरार रखा है; इस आशय से कि मध्यस्थता और कॉन्सिलेशन एक्ट 1996 की धारा 34 के तहत प्रावधान,

धारा 13 के तहत निहित प्रावधानों को मध्यस्थता अधिनियम की धारा 16 के साथ पढ़े जाने के मद्देनजर एक पुरस्कार की औचित्य को चुनौती देते हैं, जिसे बाद में लागू किया गया था, न्यायालय ने पाया कि धारा 34 की उपधारा (3) के प्रावधान के तहत परिसीमा की अवधारणा, क्योंकि इसमें ''लेकिन उसके बाद नहीं'' शब्द का उपयोग किया गया है, इसका मतलब है कि कानून विशेष रूप से जब इस धारा के तहत कार्यवाही के लिये कटौती प्रदान करता है, निर्दिष्ट अवधि से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है और कार्यवाही शुरू करने में एक विशिष्ट बाधा है, यह उन परिस्थितियों में था जहां कि न्यायालय ने माना है कि परिसीमा अधिनियम की धारा 56 के लागू होने पर रोक लागू होगी परन्तु यह वर्तमान मामला नहीं है, जहां ''लेकिन उसके बाद नहीं'' भाषा के प्रयोग द्वारा ऐसी किसी रोक का प्रयोग किया गया है या लागू किया गया है, तो उक्त अनुपात लागू नहीं होगा।

18. वर्तमान मामले में, जहां अधिनियम की धारा 17 के तहत निहित अपील के लिये सीमा निर्धारित की गई है, विशेष रूप से उन प्रावधानों के अनुसार, जिन्हें उत्तर प्रदेश राज्य में लागू किया गया था, जिसे बाद में उत्तराखण्ड राज्य द्वारा पुर्नगठन अधिनियम के तहत अपनाया गया था। अधिनियम की धारा 17 के तहत अपीलीय प्रावधान, जो इस अधिनियम की धारा 11, 12, 15 और 16 के तहत पारित आदेश के खिलाफ अपील का प्रावधान करते हैं, में शब्द या भाषा का उपयोग नहीं किया गया है। इसका मतलब यह है कि कोई विशिष्ट और पूर्ण प्रतिबंध नहीं लगाया गया था कि कोई अपील या अपील ही विशेष रूप से वर्जित नहीं होगी; यदि इसे सीमा अधिनियम की धारा 29 (2) के तहत प्रदान किये गये बचत खण्ड की प्रयोज्यता को खत्म करने के लिये निर्धारित तीन महीने की अवधि से परे प्राथमिकता दी जाती है। इसलिये, सीमा शुल्क और केन्द्रीय उत्पाद शुल्क (सुप्रा) के आयुक्त के मामलों में, उपरोक्त परिस्थितियों के तहत, धारा 29 (2) के बचत खण्ड की प्रयोज्यता से निपटते समय, मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय ने यह विचार किया है कि चूंकि उक्त मामले की धारा 34 की उपधारा (3) ने विशेष रूप से कार्यवाही शुरू करने पर रोक लगा दी थी, वहां मान्नीय सर्वोच्च न्यायालय ने माना है कि यह वैसा मामला नहीं हैं, अतः वह सिद्वान्त जो विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा याचिकाकर्ता के लिए तर्क के रूप में प्रस्तुत किया गया है, इस मामले में लागू नहीं होगा।

19. एक और निर्णय एल0एस0 सिथेरिक्स लिमिटेड बनाम फाइनेंशियल सविर्सेज लिमिटेड और अन्य, (2004) 11 सुप्रीम कोर्ट केस 456 का संदर्भ याचिकाकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता द्वारा दिया गया। हालांकि याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता ने अपने धारा 29(2) की प्रयोज्यता के तर्कों को प्रमाणित करने के लिये कई पैराग्राफों का संदर्भ दिया था, उदाहरण के लिये पैराग्राफ 32, 34, 35, 36, 37, 38, 39,

40, 41 और 42 लेकिन मेरा विचार है कि तर्क की दृढ़ता से निपटने के लिये, यदि उक्त मामले की पृष्ठभूमि पर ही विचार किया जाये तो उपरोक्त पैराग्राफों का संदर्भ अधिक प्रासंगिक नहीं हो सकता है। उसमें तथ्यात्मक पहलू के अनुसार, यह एक नियमित सिविल अपील का मामला था, जो विशेष अदालत यानी प्रतिभूतियों में लेनदेन से संबंधित अपराधों का परीक्षण अधिनियम, 1992 के प्रावधानों की शर्तों के तहत विचाराधीन था, जो एक विशेष शक्ति से जो न्यायालयों को प्रदान किया गया था से निपटाया जा रहा था। इसमें दिये गये सिद्धांतों का संदर्भ जो विद्वान अधिवक्ता द्वारा दिया गया है, इस न्यायालय का ध्यान पैरा 33 की सामग्री की ओर आकर्षित करता है, एक संदर्भ जो आवश्यक है, वह पैरा 33 की सामग्री का भी है, जो निम्नलिखित है–

> ''33. परिसीमा अधिनियम, 1963 केवल कुछ अनुप्रयोगों के संबंध में लागू है और सभी अनुप्रयोगों पर नहीं, इस तथ्य के बावजूद कि 1963 में अधिनियम के लंबे शीर्षक में ''अन्य कार्यवाही'' शब्द जोड़े गये थे। उक्त अधिनियम के प्रावधान न्यायालयों के अलावा अन्य निकायों, जैसे अर्ध–न्यायिक न्यायाधिकरण या यहां तक कि एक कार्यकारी प्राधिकरण के समक्ष कार्यवाही पर लागू नहीं होते हैं। अधिनियम मुख्य रूप से सिविल कार्यवाही या कुछ विशेष आपराधिक कार्यवाही पर लागू होता है, यहां तक कि एक ट्रिब्यूनल में भी, जहां सिविल प्रक्रिया संहिता या दण्ड प्रक्रिया संहिता लागू है; परिसीमा अधिनियम,1963 स्वंय इसके अंतर्गत की कार्यवाही पर लागू नहीं किया जा सकता है। यहां तक कि कुछ सिविल कार्यवाहियों के संबंध में भी परिसीमा अधिनियम का कोई अनुप्रयोग नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिये, अंतिम डिक्री कार्यवाही शुरू करने या सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के तहत न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को लागू करने या निर्णयों, आदेशों या डिक्री में आकस्मिक चूक या भूल को सुधारने के लिये कोई सीमा नहीं है; इसका कारण यह है कि इन शक्तियों का प्रयोग न्यायालय द्वारा स्वतः संज्ञान से भी लिया जा सकता है और इस प्रकार, किसी सीमा का कोई सवाल ही नहीं उठता है।''

20. यह अवधारणा, कि परिसीमा अधिनियम के तहत ''अन्य कार्यवाही'' शब्द का प्रयोग उन कार्यवाहियों पर लागू नहीं होगा, जो एक विशेष कानून के तहत प्रदान की जाती है, उक्त अधिनियम के प्रावधान, जो माना गया है कि यह होगा कि न्यायालयों के अलावा या ऐसे अर्ध–न्यायिक न्यायाधिकरण या यहां तक कि एक कार्यकारी प्राधिकरण के समक्ष कार्यवाही पर लागू नहीं होगा, जहां यह माना गया है कि सिविल कार्यवाही के संबंध में भी परिसीमा अधिनियम का कोई प्रयोग नहीं हो सकता है, लेकिन जहां तक अंतिम डिक्री के खिलाफ कार्यवाही शुरू करने या सिविल प्रक्रिया

संहिता की धारा 151 के तहत न्यायालय के क्षेत्राधिकार को लागू करने में सीमा की रोक का उदाहरण है, तो ऐसा नहीं किया जा सकता है। उक्त निर्णय के पैरा 33 में और जैसा कि पैरा 35 में संदर्भित है, जो प्रकृति से संबंधित था, जो निकाय किसी विवाद से निपटने के लिये गठित किया गया था, अगर उसे न्यायालय का सहारा मिल गया है, तो न्यायालय का शाब्दिक अर्थ केवल वैधानिक अदालतों तक ही सीमित नहीं है या हो सकता है, लेकिन यह भी होगा इसमें जिला न्यायाधीशों को भी शामिल किया गया है, जिन्हें विशेष रूप से कानून के तहत अपील पर निर्णय लेने की शक्तियां प्रदान की गयी है, और विशेष रूप से अधिनियम के तहत बनाई गई अदालतों को या किसी व्यक्ति के सिविल अधिकारों का निर्णय करने के लिये न्यायिक अधिकार प्राप्त हैं और विशेष रूप से अचल संपत्ति के संबंध में उस स्थिति में, परिसीमा अधिनियम के प्रावधान, जैसा कि धारा 29(2) के तहत विचार किया गया है। सिद्धांतों के मद्देनजर जिला न्यायालयों पर लागू होगा, जिसे उक्त निर्णय के पैरा 41 में संदर्भित किया गया है, जिसे यहां उद्धृत किया गया हैः–

> ''41. परिसीमा का एक कानून किसी उपाय को वर्जित करता है, अधिकार को नहीं। हालांकि एक उपाय को वर्जित किया गया है, फिर भी एक बचाव किया जा सकता है। परिसीमा प्रदान करने वाले एक विशेष कानून की व्याख्या में, कठिनाई की दलील पर विचार करना अप्रासंगिक है। विशेष के लिये प्रदान करने वाला एक विशेष कानून या किसी भी सीमा अवधि को उदार और व्यापक निर्माण प्राप्त नहीं होना चाहिये न कि कठोर या संकीर्ण। उक्त अधिनियम को लागू करने वाली संसद की मंशा और उद्देश्य को इसका पूर्ण प्रभाव दिया जाना चाहिये। इसलिये हमारी राय है कि परिसीमा अधिनियम के प्रावधान का कोई प्रयोग नहीं है, जहां तक कुर्क की गई संपत्ति के निपटान के संबंध में विशेष न्यायालय द्वारा जारी किये जाने वाले आवश्यक निर्देशों का संबंध है।''

जिसमें यह माना गया है कि भले ही कोई कानून परिसीमा अधिनियम की प्रयोज्यता में बाधा उत्पन्न करता है, लेकिन उस बाधा को उस बाधा के रूप में नहीं माना जाएगा जो संविधान द्वारा संरक्षित नागरिक अधिकार के प्रवर्तन के प्रयोजनों के लिये बनाई गई है, जो कि तत्काल मामले में लागू होता है, वह उचित मुआवजे के निर्धारण के प्रयोजनों के लिये है, जो भूमि खोने वाले को देय होना चाहिये, जिसकी भूमि विशेष विधान आरक्षित वन की घोषणा के प्रयोजनों के लिये अधिग्रहित की गई है। भले ही एलएस सिंथेटियोस (सुप्रा) के पैरा 41 के सिद्धान्तों को ध्यान में रखा जाये; किसी कानून, या किसी विशेष कानून के तहत सीमा के मुद्दे का प्रावधान करना या उससे निपटना परिसीमा की अवधि में, यह माना गया है कि संवैधानिक और

नागरिक अधिकार की रक्षा के लिये इसे व्यापक परिप्रेक्ष्य के साथ उदारतापूर्वक समझा जाना चाहिये। उक्त सिद्धान्त तत्काल इसमें भी लागू नहीं होंगे।

21. याचिकाकर्ता के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता ने एक और फैसले का हवाला दिया, जो (1985) 3 सुप्रीम कोर्ट केस 590 सुकुरू बनाम तंजी में रिपोर्ट किया गया था; विशेष रूप से उन्होंने उक्त निर्णय के पैरा 3 और 4 का उल्लेख किया है, जो यहां दिया गया हैः–

> ''3. दोनों पक्षों को सुनने के बाद हम बिना किसी हिचकिचाहट के इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस अपील में कोई दम नहीं है और वैंकेया के मामले में डिवीजनल बैंच द्वारा लिया गया दृष्टिकोण बिल्कुल सही और ठोस है। इस न्यायालय के टान म्युनिसिपल काउंसलिंग में, अथानी बनाम पीठासीन अधिकारी, श्रम न्यायालय, नित्यानंद एम0 जोशी और अन्य बनाम भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य और सुशीला देवी बनाम रामानंदन प्रसाद और अन्य के निर्णयों में यह अच्छी तरह से तय हो गया है कि परिसीमा अधिनियम, 1963 के प्रावधान केवल ''अदालतों'' में कार्यवाही पर लागू होते हैं, न कि अर्द्धन्यायिक न्यायाधिकरण या कार्यकारी अधिकारियों जैसे न्यायालयों के अलावा अन्य निकायों के समक्ष अपील या आवेदन पर, इस तथ्य के बावजूद कि सिविल या आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत न्यायालयों को प्रदृत कुछ निर्दिष्ट शक्तियां ऐसे निकायों या प्राधिकरणों में निहित हो सकते हैं, जिस कलेक्टर के समक्ष अपीलकर्ता ने अधिनियम की धारा 90 के तहत अपील की थी, वह न्यायालय नहीं है, सीमा अधिनियम इस प्रकार, उसके समक्ष कार्यवाही पर कोई प्रयोज्यता नहीं थी लेकिन ऐसी स्थिति में भी प्रासंगिक विशेष कानून में एक स्पष्ट प्रावधान शामिल हो सकता है जो अपीलीय, प्राधिकारी, जैसे कि कलेक्टर, को धारा 5 के प्रावधानों को निर्धारित करके पर्याप्त कारण दिखाये जाने पर सीमा की निर्धारित अवधि को बढ़ाने की शक्ति प्रदान करता है। परिसीमा अधिनियम ऐसी कार्यवाहियों पर लागू होगा। इसलिये यह जांचना आवश्यक हो जाता है कि क्या अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान है, जो कलेक्टर को अपील दायर करने में देरी को माफ करने के लिये परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के प्रावधानों को लागू करने का अधिकार देता है। इस संबंध में अपीलकर्ता द्वारा जिस एकमात्र प्रावधान पर भरोसा किया गया वह अधिनियम की धारा 93 है, जो, जैसा कि प्रासंगिक समय पर था, निम्नलिखित शर्तों में थाः

93. सीमा– इस अधिनियम के तहत प्रत्येक अपील और पुनरीक्षण के लिये प्रत्येक आवेदन उस आदेश की तारीख से साठ दिनों के भीतर दायर किया जायेगा, जिसके खिलाफ अपील या आवेदन दायर किया गया है और भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1908 के प्रावधान इस उद्देश्य के लिये लागू होंगे। उक्त अधिनियम की गणना धारा को स्पष्ट रूप से पढ़ने पर यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इसका प्रभाव केवल सीमा अवधि की गणना से संबंधित सीमा अधिनियम के प्रावधानों को कलेक्टर के समक्ष कार्यवाही पर लागू करना है। परिसीमा की अवधि की गणना से संबंधित प्रावधान परिसीमा अधिनियम, 1963 के भाग III में शामिल धारा 12 से 24 में निहित हैं। यह परिसीमा अवधि की गणना से संबंधित प्रावधान नहीं हैं। गणना की प्रक्रिया पूरी होने के बाद ही और यह पाया जाता है कि अपील या आवेदन निर्धारित अवधि की समाप्ति के बाद दायर किया गया है, तभी धारा 5 के तहत अवधि के विस्तार का सवाल उठ सकता है। इसलिये, हम वैकेंया के मामले में उच्च न्यायालय की डिवीजन बैंच द्वारा किये गये विचार से पूरी तरह सहमत हैं कि अधिनियम की धारा 93 में कलेक्टर के समक्ष कार्यवाही में सीमा अधिनियम,1963 की धारा 5 के प्रावधान को लागू करने का प्रभाव नहीं था।

4. हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित हुआ कि उच्च न्यायालय के निर्णय के बाद, राज्य विधानमण्डल ने आंध्र प्रदेश किरायेदारी कानून (संशोधन) अधिनियम, 1979, 1979 का अधिनियम 2 अधिनियमित किया है, जिसके तहत अधिनियम की धारा 93 में संशोधन किया गया है और परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 के प्रावधानों को अब अधिनियम की धारा 90 और 91 के तहत प्रस्तुत अपीलों और संशोधनों पर स्पष्ट रूप से लागू किया गया है। हमें अपीलकर्ता की ओर से दिये गये तर्क में कोई दम नजर नहीं आता कि उक्त संशोधन प्रकृति में स्पष्टीकरणात्मक है। धारा 93 के प्रावधान चूंकि वे इस संशोधन से पहले खड़े थे, इसलिये वे किसी भी अस्पष्टता से मुक्त थे और किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं थी। विधानमण्डल ने भी स्पष्टीकरण देने के किसी इरादे का कोई संकेत नहीं दिया है, लेकिन दूसरी ओर, उसने जो किया है, वह केवल संभावित प्रभाव के साथ अनुभाग में संशोधन करना है। इसलिये धारा 93 के संशोधित प्रावधान इस मामले में अपीलकर्ता को कोई सहायता नहीं देते हैं, जो मूल रूप से अधिनियम धारा द्वारा शासित होता है।

22. यदि परिसीमा अधिनियम की प्रयोज्यता के सिद्धांतों को पैरा 3 और 4 में की गई टिप्पणियों के आलोक में एक अपील के संदर्भ मे ध्यान में रखा जाता है, जो पीड़ित व्यक्ति द्वारा आंध्र प्रदेश (तेलंगाना) क्षेत्र, किरायेदारी और कृषि भूमि अधिनियम, 1950 की धारा 19 के अन्तर्गत कलेक्टर के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। पैरा 3 में लिया गया संदर्भ उल्लखित अवधारणा यह है कि एक अदालत या प्राधिकारी, निर्णय लेने की शक्ति के साथ निहित है और जब निर्णय यह अधिकार निर्धारित करता है किसी व्यक्ति के विशेष कानून के तहत निर्धारित सीमा के सख्त सिद्धान्तों को उस अधिकार के प्रवर्तन के प्रयोजनों के लिये बाधा उत्पन्न नहीं करनी चाहिये, जो किसी व्यक्ति को प्रदान किया गया था और जब किसी व्यक्ति को उसकी अचल सम्पति के अधिकार से जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 300ए द्वारा संरक्षित है, वंचित किया जाता है। विशेष रूप से जब इसका उद्देश्य अचल अधिकार पर अधिकार की सुरक्षा के लिये अपीलीय उपचारात्मक मंच प्राप्त करना है, क्योंकि यह एक अधिकार का निर्णय है।

23. एक अन्य निर्णय जिसका संदर्भ याचिकाकर्ताओं के अधिवक्ता ने दिया है, वह यह है कि (1996) 9 सुप्रीम कोर्ट मामलों, 414 विशेष कर्तव्य अधिकारी (भूमि अधिग्रहण) और अन्य बनाम शाह मणिलाल चंदूलाल और अन्य में रिपोर्ट किया गया है और वह पैराग्राफ 4, 5, 6, 7, 8 और 12 की सामग्री का संदर्भ दिया गया है, जो यहां दी गई हैः—

> 4. इसलिये, सवाल यह है कि क्या परिसीमा अधिनियम की धारा 5 लागू होगी? उच्च न्यायालय ने भूमि अधिग्रहण (महाराष्ट्र विस्तार और संशोधन) अधिनियम XXXVIII 1964 की धारा 18 की उपधारा (3) पर भरोसा किया, जो एक स्थानीय संशोधन के माध्यम से बनाई गई थी, जो इस प्रकार हैः
>
> > इस धारा के तहत किसी आवेदन पर कलेक्टर द्वारा दिया गया कोई भी आदेश उच्च न्यायालय द्वारा संशोधन के अधीन होगा, जैसे कि कलेक्टर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 115 के अर्थ के तहत उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय थे।
>
> 5. ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात उच्च न्यायालय ने लगातार विचार किया है कि, उप धारा 3 के संचालन से, कलेक्टर को धारा 115, सिविल प्रक्रिया संहिता संक्षेप में सी0पी0सी0 के तहत उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय के रूप में नामित किया था, परिसीमा अधिनियम 1963 का 26 की धारा 5 आर्कषित होती है। हालांकि, धारा 18 की उपधारा 3, स्थानीय संशोधनों के आधार पर, धारा 115, सीपीसी के तहत पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार

का प्रयोग करने के सीमित उददेश्य के लिए कलेक्टर को न्यायालय के रूप में मानती है ताकि धारा 18 के तहत कलेक्टर द्वारा पारित आदेशों की त्रुटियों को ठीक किया जा सके। परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के परियोजन के लिए उसे न्यायालय नहीं माना जा सकता। परिसीमा अधिनियम की धारा 5 तभी लागू होती है जब एलएओ न्यायालय के रूप में कार्य करता है।

6. प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय का नजरिया कानून के हिसाब से सही है? परिसीमा अधिनियम की धारा 3 न्यायालय पर निर्धारित सीमा को लागू करने का कर्मव्य रखती है और इस तथ्य के बावजूद कि परिसीमा का सम्मान नही किया गया था, न्यायालय को यह सुनिश्चित करने का आदेश दिया गया है कि कोई भी मुकदमा आदि निर्धारित सीमा से परे नहीं रखा जाये, जब तक कि अपवाद न हो। समय के विस्तार के लिए धारा 4 से 24 दोनों सम्मिलित में पाये जाते हैं और धारा 5 उनमें से एक है और उन वर्गो द्वारा निर्धारित समय को बढाती है।परिसीमा अधिनियम की धारा 5 कुछ मामलों में पर्याप्त कारण दिखाने पर परिसीमा की निर्धारित अवधि बढाती है, जो प्रत्येक मामले में तथ्य का प्रश्न होगा।

7. सीपीसी के आदेश 21 के किसी भी प्रावधान के तहत आवेदन के अलावा किसी भी अपील या आवेदन को निर्धारित अवधि के बाद स्वीकार किया जा सकता है, यदि आवेदक या अपीलकर्ता आदालत को संतुष्ट करता है कि उसके पास मुकदमा दायर न करने या प्राथमिकता न देने का पर्याप्त कारण है। अपील करना या–ऐसी अवधि के भीतर आवेदन करना। इस मामले के प्रयोजन के लिए स्पष्टिकरण आवश्यक नहीं है, इसलिए छोड़ दिया गया, यदि मुकदमा परिसीमा अधिनियम द्वारा निर्धारित सीमा से बाधित है, तो निर्धारित समय के विस्तार के लिए एक आवेदन अदालत में किया जा सकता है और आवेदक अदालत को संतुष्ट कर सकता है कि उसके पास अपील न करने या इस अवधि के भीतर आवेदन न करने का पर्याप्त कारण है। इसलिए प्रश्न यह है कि क्या धारा 18(1) के प्रयोजन के लिए कलेक्टर एक न्यायालय है ?

8. लिखित आवेदन करने का अधिकार धारा 18(1) के अन्तर्गत प्रदान किया गया है उपधारा (2) का प्रावधान उस सीमा को निर्धारित करता है जिसके भीतर दावेदार या असंतुष्ट मालिक द्वारा उक्त अधिकार का प्रयोग किया जाएगा। मो0में0 हसनुद्दीन बनाम महाराष्ट्र राज्य मनु/एससी/0311/1978(1979)2 एससीआर 265, इस न्यायालय को

कलेक्टर द्वारा अदालत को सीमा अवधि से परे धारा 18 के तहत एक पुनर्सवीक्षा में निर्णय लेने के लिए बुलाया गया था, कि क्या अदालत जा सकती है संदर्भ के पीछे और मुआवजे का निर्धारण, हालांकि धारा 18 के तहत संदर्भ के लिए आवेदन सीमा से वर्जित था ? इस न्यायालय ने माना था कि धारा 18 के तहत कलेक्टर की आवश्यकता है कुछ शर्तो की पूर्तिपर एक संदर्भ बनाने के लिए, अर्थात् **(i)** इच्छुक व्यक्ति द्वारा लिखित आवेदन जिसने पुरस्कार स्वीकार नहीं किया है। **(ii)** पुरस्कार स्वीकार न करने पर उठाई गई आपत्तियों की प्रकृति, और **(iii)** वह समय जिसके भीतर आवेदन किया जाएगा। पैरा 22 में उन शर्तो को पूरा करने के लिए पूर्ववर्ती शर्तो के रूप में विस्तृत करने के बाद, यह माना गया कि धारा 18 के तहत एक संदर्भ बनाने की शक्ति उसमें निर्धारित शर्तो से घिरा हुआ है और ऐसी एक शर्त परंतुक में पाई जाने वाली सीमा के संबंध में एक शर्त हैं। कलेक्टर एक वैधानिक प्राधिकारी के रूप में कार्य करता है। यदि समय पर आवेदन नहीं किया गया तो कलेक्टर को संदर्भ देने का अधिकार नहीं होगा। कलेक्टर को अपनी शक्ति के आधार पर सीमा निर्धारित करने के लिए यह तय करना होगा की दावेदार द्वारा प्रस्तुत आवेदन समय सीमा के भीतर है या नहीं और धारा 18 के तहत निर्धारित शर्तो को निर्दिष्ट करना होगा, भले ही संदर्भ कलेक्टर द्वारा गलत तरीके से दिया गया हो, अदालत को संदर्भ की वैधता निर्धारित करनी होगी क्योंकि किसी संदर्भ को सुनने का न्यायालय का अधिकार क्षेत्र धारा 18 के तहत किए गए उचित संदर्भ पर निर्भर करता है। यदि सन्दर्भ उचित नहीं है तो न्यायालय न्यायालय को सन्दर्भ सुनने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है। इसलिए, यह यह माना गया है कि यह देखना अदालत का कर्तव्य है कि सीमा से संबंधित धारा 18 सहित वैधानिक शर्तो का अनुपालन किया गया है और आवेदन समय–बाधित नहीं है। उसे स्वयं को संतुष्ट करने से रोका नहीं गया है कि जिस संदर्भ को सुनने केलिए उसे बलुाया गया है वह एक वैध संदर्भ है। उसे मुआवजा निर्धारित करने के लिए आगे बढ़ना होगा और यदि यह समय–बाधित है, तो उसे इसकी सुनवाई के लिए नहीं बुलाया जाएगा। यह केवल एक वैध संदर्भ है जो न्यायालय को अधिकार क्षेत्र देता है। इसलिए, अदालत को खुद से यह सवाल पूछना होगा कि क्या संदर्भ पर विचार करना उसके अधिकार क्षेत्र में है। यदि सन्दर्भ उपधारा(2) के परन्तुक द्वारा निर्धारित अवधि से अधिक का है अधिनियम की धारा 18 और यदि उसे पता चलता है कि ऐसा नहीं किया गया है, तो अदालत संदर्भ का उत्तर देने से

इनकार कर देगी। तदनुसार, यह माना गया कि चूंकि संदर्भ सीमा से परे किया गया था, इसलिए अदालत द्वारा संदर्भ का उत्तर देने से इनकार करना उचित था।

12. नित्यानंद, एम. जोशी और अन्य में। वी. भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य मनु/एससी/0320/1969: (1969)**IILLJ711SC,** इस गणना के तीन न्यायाधीशो की एक पीठ को इस बात पर विचार करना था कि क्या ओद्योगिक न्यायाधिकरण ओद्योगिक विवाद अधिनियम,1947 के अर्थ के भीतर एक अदालत है जब वह धारा 33सी (1) और (2) के तहत आवेदन पर विचार करता है। यह माना गया कि परिसीमा अधिनियम की अनुसूची का अनुच्छेद 137 सीपीसी के तहत संदर्भित एक आवेदन पर लागू होता है और यह अदालत में एक आवेदन पर विचार करता है जैसा कि परिसीमा अधिनियम की तीसरी अनुसूची में प्रदान किया गया है। परिसीमा अधिनियम की धारा 4 में न्यायालय को बंद करने का भी उल्लेख है। धारा 5 परिसीमा अधिनियत केवल उस अदालत या अपील पर विचार करना होता है, जब वह संतुष्ट हो जाता है कि आवेदक के पास अपील न करने या आवेदन न करने के लिए पर्याप्त कारण है। जब श्रम न्यायालय ओद्योगिक विवाद अधिनियम,1947 की धारा 33सी (1) और (2) के तहत शक्ति का प्रयोग करता है, तो उसे सीमा अधिनियम के भीतर एक अदालत नहीं माना जाता था।"

24. उक्त मामले में, जो प्रश्न विचाराधीन था वह भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894 की धारा 18 के तहत एक संदर्भ कार्यवाही की प्राथमिकता थी, जिसमें धारा 18 की उपधारा (2) के तहत, इसने एक रोक बनाई थी कि कलेक्टर/भूमि अधिग्रहण अधिकारी, जो न्यायिक अधिकार या न्यायिक अधिकारों का प्रयोग नहीं कर रहा था, बल्कि भूमि अधिग्रहण अधिनियम के तहत प्रदान किए गए किसी न्यायालय में निर्णय के लिए संदर्भ बनाने के अधिकार का प्रयोग कर रहा था। वह स्वयं मुआवजे की मात्रा तय करने के प्रयोजनों के लिए, इन परिस्थितियों में यह माना गया कि भूमि अधिग्रहण अधिनियम की धारा 18 के तहत संदर्भ प्राधिकारी के पास देरी को माफ करने की कोई शक्ति नहीं होगी, जहां विलंबित संदर्भ को प्राथमिकता दी जाती है, और वह भी इस कारण से कि यह माना गया था कि अधिनियम की धारा 3(डी) के तहत प्रदान की गई न्यायालय की परिभाषा के दायरे में नहीं आएगा, और उक्त सिद्वान्त जैसा कि पैरा 11 में बताया गया है उक्त निर्णय यहां दिया गया है:–

11. प्रश्न उभरता है: क्या एलएओ/कलेक्टर अदालत के रूप में कार्य करता है? धारा 3 (डी)''न्यायालय'' को परिभाषित करता है जिसका अर्थ

है मूल क्षेत्राधिकार का प्रमुख सिविल न्यायालय या अधिनियम के तहत न्यायालय के कार्यो को निष्पादित करने के लिए उसके तहत नियक्ति किसी विशेष स्थानीय सीमा के भीतर एक प्रमुख न्यायिक अधिकारी। खंड 3 (सी)में ''कलेक्टर'' को जिले के कलेक्टर के रूप में परिभाषित किया गया है और इसमें अधिनियम के तहत कलेक्टर के कार्यो को करने के लिए उपयुक्त सरकार द्वारा नियुक्ति एक उपायुक्त आदि शामिल हैं। उन्हे कई तरह से कलेक्टर/एलएओ कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होगा कि अधिनियम कलेक्टर और न्यायालय के बीच अंतर करता है। और अधिनियम की धारा 18(1) के तहत किए गए एक लिखित आवेदन को अदालत में संदर्भित करना और अधिनियत की धारा 19 और 20 का अनुपालन करना। कलेक्टर और न्यायालय के द्वंद्व को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

25. उक्त निर्णय एक अलग परिप्रेक्ष्य से सिद्वांत भी निर्धारित कर रहा था, जहां उच्च न्यायालय ने स्थानीय संशोधन के माध्यम से बनाए गए उक्त अधिनियम, 1964 की धारा 18 की उपधारा(3) पर भरोसा किया, जो कि भूमि अधिग्रहण महाराष्ट्र विस्तार और संशोधन अधिनियम,1964 है। वहां न्यायालय ने धारा 18 के तहत एक संदर्भ की प्राथमिकता में देरी के विस्तार की शक्तियों का प्रयोग किया है। इसलिए, यदि समग्रता में, यदि उक्त निर्णय पर विचार किया जाए, तो मेरा विचार है कि विशेष रूप से तथ्यात्मक पृष्ठभूमि, जैसा कि उक्त निर्णय के पैरा 18 में संदर्भित है, जिसे यहां नीचे दिया गया हैः–

''18. हालांकि यह कठिन हो सकता है, अधिनियम की धारा 18 (2) के परंतुक के तहत प्रदान की गई विशिष्ट सीमा को देखते हुए हमारा मानना है कि धारा 29 की उप–धारा(2) को परंतुक पर लागू नहीं किया जा सकता है धारा 18 की उपधारा(2) के लिए कलेक्टर/एलएओ, एक अदालत नहीं है जब वह धारा 18(1) के तहत एक वैधानिक प्राधिकारी के रूप में कार्य करता है। इसलिए, सीमा अधिनियम की धारा 5 को विस्तार के लिए लागू नहीं किया जा सकता है। धारा 18 की उपधारा(2) के परंतुक के तहत निर्धारित सीमा की अवधि, इसलिए, उच्च न्यायालय का यह निष्कर्ष सही नहीं था कि कलेक्टर परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के तहत एक अदालत है।'' यह पूरी तरह से एक अलग संभावना और अवधारणा के तहत है, जहां एक वैधानिक संशोधन के माध्यम से, भूमि अधिग्रहण अधिनियम, जो महाराष्ट्र राज्य द्वारा बनाया गया था, सीमा के सिद्वांतों को संदर्भ बनाने के लिए देरी की माफी की शक्ति के संबंध में

> पढ़ा जा रहा था। कलेक्टर द्वारा, जिसे एक अधिनियम के तहत अदालत नहीं माना गया था, जिसे कोई न्यायिक अधिकार नहीं मिला है। इसलिए, उक्त निर्णय भी वर्तमान मामले के आलोक में लागू नहीं होगा, जहां मैं पहले ही मान चुका हूं और मेरी दृढ़ राय है कि जहां मुआवजे का निर्धारण भारत के संविधान के सिद्वांतों और करने की शक्ति के अनुसार निहित है। इसकी मात्रा निर्धारित करके निर्णय जिला न्यायाधीष के पास निहित है, जिला न्यायाधीश की व्याख्या के तहत जिस शब्द का उपयोग किया गया है, यूपी राज्य संशोधन द्वारा धारा 17 का अर्थ यह होगा कि यह भारत के संविधान के तहत किसी व्यक्ति में निहित और संरक्षित अधिकारों में से एक पर फेसला देने के लिए न्यायालय की शक्तियों का प्रयोग कर रहा है।

यह पूरी तरह से एक अलग सम्भावना और अवधारणा के तहत है, जहां एक वैधानिक संशोधन के माध्यम से, भूमि अधिग्रहण अधिनियम, जो महाराष्ट्र राज्य द्वारा बनाया गया था, संदर्भ बनाने के लिए परिसीमा के सिद्धान्तों को कलेक्टर द्वारा देरी की माफी की शक्ति के संबध में पढा जा रहा था। जिसे एक अधिनियम के तहत न्यायालय नहीं माना गया था, जिसे कोई न्यायिक अधिकार नहीं मिला है। इसलिए उक्त निर्णय भी वर्तमान मामले के आलोक में लागू नहीं होगा, जहां मैं पहले ही मान चुका हु और मेरी दृढ राय है कि जहां मुआवजे का निर्धारण भारत के संविधान में निहित शक्ति के अनुसार है, इसकी मात्रा का निर्धारण जिला न्यायाधीश के पास निहित है। जिला जज शब्द की व्याख्या जैसा कि उत्तर प्रदेश राज्य संशोधन अधिनियम की धारा 17 के अन्तर्गत है, का अर्थ यह होगा कि यह भारत के संविधान के तहत किसी व्यक्ति में निहित और संरक्षित अधिकारों में से एक पर निर्णय देने के लिए न्यायालय की शक्ति का प्रयोग कर रहा है।

जैसा कि इसे भारत के संविधान की सूची III यानि समवर्ती सूची में जगह मिलती है, जैसा कि 01/11/1956 से इसकी प्रविष्टि के माध्यम से प्रतिस्थापित किया गया था।

42. वे सिद्वांत जिन पर संघ या राज्य के प्रयोजनों के लिए या किसी अन्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिए अर्जित या अधिगृहीत संपत्ति के लिए मुआवजा निर्धारित किया जाना है और जिस रूप और तरीके से मुआवजा दिया जाना है। इसलिए यह एक संवैधानिक कार्य है जिसे जिला न्यायालय में निहित किया गया है, जिसे सीमा अधिनियम की धारा 29 (2) को आकर्षित करने के उद्देश्यों के लिए अदालत माना जाएगा, जो वन अधिनियम 1927 की धारा 17 के तहत अपील के लिए लागू होगा।

26. जैसा कि (2015) 7 सुप्रीम कोर्ट केस, 58 एमपी स्अील कॉर्पोरेशन बनाम सेंट्रल एक्सरसाइज कमिश्नर में रिर्पोट किया गया था, याचिकाकर्ताओं के वकील द्वारा दिया गया निर्णय वर्तमान मामले में लागू नहीं होगा, क्योंकि यह एक ऐसा मामला था, जहां के सिद्वांत सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 128 के तहत अपील की प्राथमिकता के लिये प्रदान की गई सीमा के आलोक में अदालत या सिविल कार्यवाही के समक्ष धारा 14 की प्रयोज्यता से निपटा जा रहा था। उक्त मामले में जिस तथ्यात्मक पृष्ठ भूमि पर भरोसा किया गया है,वह यही थी कि याचिकाकर्ता जहाज तोड़ने की गतिविधि के व्यवसाय में लगे हुए थे और उस मामले में, यह धारा 14 का निहितार्थ था। जिसे मुख्य रूप से एक अपील के प्रयोजनों के लिए माना जा रहा था जिस पर धारा 128 के तहत विचार किया गया था और विशेष रूप से, उक्त निर्णय अपीलों के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 14 के तहत निहित प्रावधानों की प्रयोज्यता की अवधारणा और परिस्थितियों से निपट रहा था। सीमा शुल्क अधिनियम के तहत और इसलिए उपरोक्त प्रस्तरों के संदर्भ को संक्षेप में उन टिप्पटिणों के आलोक में माना जा सकता है, जो माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पैरा 17 में संदर्भित किये गये थे, जिसे यहां उद्वृत किया गया है:–

> ''17. 13, 21 और अनुच्छेद 124, 130 और 131 फिर से यह समझने में महत्वपूर्ण है कि ''न्यायालय'' अभिव्यक्ति का क्या अर्थ है। वे नीचे दिये गये है,
>
> ''13. उन मामलो में समय का बहिष्कार जहां एक निर्धन के रूप में मुकदमा करने या अपील करने की अनुमति के लिये आवेदन किया जाता है। – किसी भी मामले में किसी भी मुकदमे या अपील के लिये निर्धारित सीमा की अवधि की गणना करने में जहां एक निर्धन के रूप में मुकदमा करने या अपील करने की अनुमति के लिये आवेदन किया जाता है किया गया है और खारिज कर दिया गया है, जिस समय के दौरान आवेदक सद्वभावना से मुकदमा चला रहा है, ऐसी छुट्टी के लिये उसके आवेदन को बाहर रखा जाएगा, और अदालत, ऐसे मुकदमे या अपील के लिये निर्धारित अदालत शुल्क के भुगतान पर, मुकदमे या अपील पर विचार कर सकती है। उसी बल और प्रभाव के साथ जैसे कि पहली बार में अदालती फीस का भुगतान किया गया हो।''

और वह सिद्वांतो के तहत, जो एक मामला था, उन परिस्थितियों में सीमा अधिनियम की धारा 14 के आकर्षण का सामना करना पडा था, और उसके संबंध में संदर्भ पैरा 28 की सामग्री से हो सकता है, जो कि निपट रहा था एक अपीलीय प्राधिकारी की अवधारणा के साथ, जो केरल भवन (पट्टा और किराया नियंत्रण अधिनियम), 1965 की धारा 13 के तहत इसे निहित किया गया था; जहां धारा 29(2) के प्रावधानो को अपील की प्राथमिकता के प्रयोजनो के लिये सीमा की अवधि बढाने के प्रयोजनों के लिये आकर्षित किया जा रहा था, यहां तक कि उक्त मामले में भी निर्धारित अनुपात पूरी तरह से एक अलग संदर्भ के तहत था जहां आकर्षण धारा 14

के सिद्वांतो की परिसीमा अधिनियम को अपीलो के अनुरूप पढा जा रहा था, जिस पर सीमा शुल्क की अधिनियम की धारा 128 के तहत विचार किया गया था और जो कमोबेश एक प्रतिपूरक और एक दण्डात्मक प्रावधान था और इसमें कर लगाने वाले जार होंगे। जहां कि रोक सीमा का उदाता पूर्वक अर्थ नही लगाया जा सकता है और इसलिए यह लागू नही होगा।

27. याचिकाकर्ताओ के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा एक संदर्भ दिया गया था, जो कि (1997) 6 सुप्रीम कोर्ट केस 280, तोता राम बनाम यूपी राज्य और अन्य में दिये गये निर्णय का है और विशेष रूप से पेरा 3 का उल्लेख किया है। जिसे यहां उद्वृत किया गया हैः–

> ''3 इसके पढने से स्पष्ट है कि एक व्यक्ति जिसकी भूमि अधिनियम की धारा 4910 के तहत जारी एक सामान्य अधिसूचना के तहत अधिग्रहित की गयी है, लेकिन जो धारा 18 के तहत संदर्भ के उपाय का लाभ उठाने में विफल रहा है, वह लिखित आवेदन करने के लिये पात्र है मुआवजा लागू करने वाले न्यायालय के फेसले की तारीख से तीन महीने के भीतर। इस न्यायालय द्वारा यह व्याख्या दी गयी है कि ''न्यायालय'' का अर्थ मूल अधिकार क्षेत्राधिकार का न्यायालय है जिसके लिये धारा 18 के तहत संदर्भ होगा। स्वीकृत रूप से संदर्भ न्यायालय का पंचाट 18 मई 1990 को बनाया गया था, परिसीमा उसी तिथि से चलनी शुरू हुई। धारा 28ए का प्रावधान व्यक्ति को पंचाट और डिक्री की प्रमाणित प्रति प्राप्त करने का अधिकार देता है और पंचाट और डिक्री की प्रमाणित प्रति प्राप्त करने का अधिकार देता है और पुरस्कार और डिक्री की प्रमाणित प्रति प्राप्त करने में लगने वाले समय को तीन माह की अवधि की गणना में शामिल नही किया जाएगा। व्यक्त भाषा को देखते हुये, ज्ञान का सवाल ही नही उठता है और इसलिए, याचिकाकर्ता की यह दलील की ज्ञान की सीमा से शुरू होने वाली तीन महीने की सीमा स्पष्ट रूप से अस्थिर है और इस संबंध में इसे स्वीकार नही किया जा सकता है।''

28. मेरे आदेश पर पूरी श्रद्वा और विनम्रता के साथ, मेरा विचार है कि उक्त मामले की तथ्यात्मक पृष्ठभूमि, मेरे पेरा 3 में देखे गये निष्कर्षो से निपटने से पहले इसे उक्त निर्णय के पेरा 2 के संदर्भ में भी पढना होगा, जो मुआवजे की राशि के पुनर्निधारण की संभावना से निपट रहा था, विशेष रूप से किसी अदालत के फैसले के आधार पर, जैसा कि भूमि अधिग्रहण के अधिनियम की धारा 28ए के तहत परिकल्पित किया गया है। चूकिं यह धारा 28 ए की प्रयोज्यता के संदर्भ में था, जहां धारा 4 के तहत एक सामान्य अधिसूचना जारी करने के आधार पर भूमि का अधिग्रहण किया गया था, यह एक मामला था और स्थिति थी, जहां भूमि खोने वाला भूमि अधिग्रहण अधिनियम की धारा 18 के अन्तर्गत संदर्भ प्रस्तुत कर लाभ उठाने में विफल रहा था, जहां यह सवाल उठा कि क्या संदर्भ बनाने के लिये सीमा का अवधि को बढाया जा सकता है क्या ऐसी अवधारणा है, जो यह निर्धारित करे कि अधिग्रहण अधिनियम के तहत संदर्भित अदालतो का मतलब ''मूल सिविल क्षेत्राधिकार'' की अदालत होती है। अतः उक्त निर्णय भी पूरी तरह

से एक अलग अवधारणा है और संदर्भ और मामले के तथ्यो और परिस्थितियों के तहत था, जो वर्तमान मामले में लागू नही होगा।

29. अंत में, यह न्यायालय उन सिद्वांतो पर विचार करने से अनभिज्ञ नही हो सकता है, जो माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राजीव सरीन व अन्य बनाम उत्तराखण्ड राज्य व अन्य (2011) 8 सुप्रीम कोर्ट 708 में निर्धारित किये गये थे, जहां उक्त निर्णय में माननीय सर्वोच न्यायालय में भारत के संविधान के अनुच्छेद 300–ए के परिणाम और प्रभाव से निपटते हुये, अधिग्रहण के परिणाम स्वरूप किसी व्यक्ति को संपत्ति से वंचित होने का पहलू बताया है। यह माना गया कि संपत्ति से वंचित होने का मतलब यह हो सकता है कि संविधान में किए गए संशोधन के आधार पर अनुच्छेद 19 (1) (एफ) को हटा दिया गया हो, क्योंकि संपत्ति का अधिकार अब मौलिक अधिकार नही रहा है लेकिन फिर यह भ्रम है संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (एफ) को अनुच्छेद 300ए के साथ पढा जाना चाहिए, अचल संपत्ति पर कब्जा करने के परिणाम स्वरूप मुआवजा कृत्रिम और भ्रमपूर्ण नहीं हो सकता है और यह एक वास्तविक होना चाहिए और मेरे विचार के अनुसार, जहां भी यह मुआवजे का निर्धारण है, जो देय है और एक विशेष कानून के तहत एक न्यायालय को न्यायिक अधिकार दिया गया है, परिसीमा अधिनियम की धारा 29 (2) के सिद्वान्त लागू होगें। उक्त निर्णय के पेरा 68 से 78 का संदर्भ लिया जा सकता है जिसका उल्लेख यहां किया गया है–

> ''68 संविधान के अनुच्छेद 300 ए के अर्थ के अंतर्गत संपत्ति से वंचित करने की घ ाटना आमतौर पर ज्यादातर सार्वजनिक उद्देश्य के संदर्भ में होती है स्पष्ट रूप से, कोई भी कानून, जो किसी व्यक्ति को निजी हित के लिये अपनी निजी संपत्ति से वंचित करता है, न्यायिक पुर्नविलोकन के अधीन होगा। इसलिए अन्तिम 60 वर्षो में, हालाकि सार्वजनिक उद्देश्य की अवधारणा को काफी व्यापक व्याख्या दी गयी है, फिर भी, संविधान के अनुच्छेद 300 ए को लागू करने के लिये ''सार्वजनिक उद्देश्य'' सबसे महत्वपूर्ण शब्द बने हुये है।
>
> 69. मुआवजे का दावा करने के संबंध में, सभी आधुनिक संविधान, जो निरपवाद रूप से लोकतांत्रिक चरित्र के है, स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग करने की शर्त के रूप में मुआवजे के भुगतान का प्रावधान करते है ऑस्टेलिया का राष्ट मण्डल अधिनियम, एक फ्रासीसी नागरिक संहिता (अनुच्छेद 545), सुयंक्त राज्य अमेरिका के संविधान का पांचवा संशोधन और इतालवी संविधान ने ली गयी संपत्ति की प्रतिपूर्ति के रूप में ''उचित शब्दो'' ''न्यायपूर्ण क्षतिपूर्ति'', ''उचित मुआवजा'' के लिये सिद्वांत प्रदान किये।
>
> 70.भारतीय संविधान के तहत, किसी की संपत्ति से वंचित होने पर मुआवजे के दावे को कवर करने वाले काननू के क्षेत्र का पता संविधान की सातवीं अनुसूची की प्रविष्टि 42 सूची 3 से लगाया जा सकता है। संविधान (7 वां संशोधन) अधिनियम,

1956 ने ''संपत्ति के अधिग्रहण और अधिग्रहण'' से संबंधित प्रविष्टि 33 सूची।, प्रविष्टि 36 सूची 2 को हटा दिया और प्रविष्टि 42 सूची 3 को फिर से बदल दिया। संपत्ति का अधिकार अब मौलिक अधिकार नही रह गया है, संविधान के अनुच्छेद 300 ए में दिये गये कानून के अधिकार के तहत अधिनियमित एक कानून केवल संविधान के भाग 3 में कथित उल्लघंन के लिये न्यायिक समीक्षा के लिये उत्तरदायी नही है।

71. जमीदारी उन्मूलन कानूनो की रक्षा के लिये संवैधानिक (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 द्वारा अनुच्छेद 31ए डाला गया था। संविधान के अनुच्छेद 31ए (1) (ए) से (जी) के तहत वर्णित विषय वस्तु के संबंध में अधिनियमित कानूनो को अनुच्छेद 14 के उल्लंघन के आधार पर चुनौती देने का अधिकार भी संवैधानिक रूप से बाहर रखा गया था। इसके अलावा, संविधान की नौवीं अनुसूची में पढे जाने वाला अनुच्छेद 31बी सभी कानूनो की रक्षा करता है भले ही वह संविधान के भाग 3 का उल्लंघन करती हो। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि आईआर कोएल्हू बनाम तमिलनाडू राज्य में संवैधानिक पीठ के फैसले में इस न्यायालय ने माना है कि 24. 12.1973 के बाद संवैधानिक संशोधनो उल्लंघन करके संविधान की नौवीं अनुसूची में जोडे गये कानून, बुनयादी संरचना सिद्वांत की तरह जमीन पर न्यायिक समीक्षा के लिये उत्तरदायी होंगे।

72. इसका तर्क अपीलकर्ताओ की ओर से उपस्थित विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा दिया गया है कि प्रतिवादियों द्वारा की गयी कार्यवाही को दोहरे सिद्वांतो ''सार्वजनिक उद्देश्य व पर्याप्त मुआवजा'' को पूरा करना चाहिए। यह तर्क दिया गया है कि जब भी राज्य अपनी कार्यवाही में मनमानी करता है तो अनुच्छेद 14, 19 और 21 के प्रावधान आकर्षित होंगे और ऐसी कार्यवाही रद्द की जा सकती है। यह प्रस्तुत किया की KUZALR अधिनियम उस स्थिति में मुआवजे की राशि तय करने के लिये कोई सिद्वांत या दिशा निर्देश प्रदान नही करता है जब प्रश्नगत संपत्ति से कोई वास्तविक आय प्राप्त नही हो रही हो।

73. आगे यह प्रस्तुत किया गया है कि सार्वजनिक उद्देश्य और प्रख्यात अनुक्षेत्र की अंतर्निहित शक्तियां अनुच्छेद 300 ए और प्रविष्टि 42 सूची 3, ''संपत्ति का अधिग्रहण और संग्रहण'' में सन्निहित है, जो आवश्यक रूप से दर्शाता है कि संपत्ति का अधिग्रहण जनता के उपयोग के लिये होगा और जब भी किसी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित किया जाता है, तो अनुच्छेद 300 ए के साथ–साथ प्रविष्टि 42 सूची 3, में निहित सीमाएं तस्वीर में आ जाऐगी और न्यायालय हमेशा प्रश्नगत कानून की वैधता की जांच कर सकता है। आगे यह प्रस्तुत किया गया है कि शुन्य मुआवजा देना संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के तहत न्यायिक समीक्षा के अधीन है।

74. यह राज्य का मामला है कि वनो के संबंध में उत्तर प्रदेश जमीदारी विनाश और भूमि सुधार अधिनियम, 1950 के तहत वैधानिक योजना धारा 39 (1)(ई) में प्रदान की गई है। उक्त धारा मुआवजे की गणना के लिये दो तरीकों का प्रावधान करती है, अर्थात पिछले 20 से 40 वर्षो की औसत वार्षिक आय, जैसा कि धारा 29(1)(ई) में प्रदान किया गया है। (i) और निहित होने की तारीख पर वार्षिक उपज का अनुमान जैसा कि धारा 39(1)(ई) (ii) दिया गया है। आगे यह तर्क दिया गया कि KUZALR अधिनियम के संबंध में, उसी यूपी विधान मण्डल में, जिसके पास धारा 39 (1)(ई) (ii) का उदाहरण था, जानबुझकर दूसरे उपखण्ड को हटा दिया और मुआवजे को केवल पिछले 20 वर्षो की औसत वार्षिक आय तक सीमित कर दिया। इससे यह तर्क दिया गया कि जहां वार्षिक आय नही है, वहां मुआवजा नही मिलेगा।

75. आगे यह तर्क दिया कि चूंकि धारा 39 (1)(ई) (i) के तहत अभिव्यक्ति ''औसत वार्षिक आय'' की न्यायिक व्याख्या पहले ही गंगा देवी बनाम यूपी राज्य मनु/एससी/0502/1972: (1972) 3 एससीसी 126 के मामले में की जा चुकी है जहां आय का अर्थ ''वास्तविक'' वार्षिक आय है, अनुमान नही, इसलिए, यदि वन भूमि से कोई आय नही हो रही है तो KUZALR अधिनिमय में निर्धारित वैधानिक सूत्र में, यह किसी मुआवजे का हकदार नही होगा।

76. सरकार को अपनी विभिन्न वैधानिक शक्तियों का प्रयोग करके भूमि अधिग्रहण करने का अधिकार है। भूमि अधिग्रहण और इस प्रकार संपत्ति का ह्रास अधिनियमित ढांचे के अनुसार संभव और स्वीकार्य है। राज्य की पुलिस शक्ति के प्रयोग पर भी अधिग्रहण की अनुमति है, कानूनी प्रक्रिया के अन्तर्गत निहित शक्तियों का प्रयोग करके ऐसी भूमि का अधिग्रहण करना भी संभव और स्वीकार्य है। यह अधिनियम सार्वजनिक प्रयोजन या सार्वजनिक उपयोग के लिये भूमि के अधिग्रहण को अनिवार्य करता है, जिसकी अभिव्यक्ति अधिनियम में ही परिभाषित है। यह कार्य यह अधिनियम में स्पष्ट रूप से निर्धारित तरीके और तरीके से कंपनियों के उपयोग के लिये भूमि के अधिग्रहण का भी अधिकार देता है और इस तरह के अधिग्रहण का उद्देश्य अधिनिमय में सार्वजनिक उद्देश्य के रूप में नही बल्कि भूमि अधिग्रहण अधिनियम की धारा 40 में विशेष रूप से उल्लेखित उद्देश्य के रूप में परिकल्पित किया गया है। लेकिन, भूमि अधिग्रहण के उपरोक्त दोनो तरीको के मामलो में अधिनियम भूमि के ऐसे अधिग्रहण के लिये मुआवजे के भुगतान और संपत्ति से वंचित करने की परिकल्पना करता है, जो न्यायोचित और उचित है।

77. संविधान के अनुच्छेद 31(2) को संविधान के संशोधन(44वां) अधिनियम 1978 द्वारा निरस्त कर दिया गया है। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि अनुच्छेद 300 ए को

संविधान (44 वां संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा व्यवहारिक रूप से संविधान के अनुच्छेद 31 (1) को पुनः जोडकर जोडा गया है। अतः सम्पत्ति का अधिकार अब मौलिक अधिकार नहीं है, बल्कि संविधान द्वारा परिकल्पित और प्रदृत अधिकार है और वह भी केवल संविधान के अनुछेद 31 (1) को बरकरार रखते हुये और विशेष रूप से 31 (2) को हटाकर। उपरोक्त स्थिति के मद्देनजर सम्पत्ति के अधिकार की पूरी अवधारणा को उस मानसिकता से अलग मानसिकता के साथ देखा जाना चाहिये, जो उस अवधि के दौरन प्रचलित थी, जब एमीनेन्ट डोमेने की अवधारणा मौलिक अधिकारों का सन्निहित प्रावधान थी। जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 300ए के तहत प्रावधान है, राज्य निर्दिष्ट उपयोग की लिये भूमि अधिग्रहण करने के लिये आगे बढ़ सकता है लेकिन राज्य विधायिक या संसद के माध्यम से कानून बनाकर या कानून के बल पर आगे बढ़ सकता है।

79. जब राज्य किसी निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण की शक्ति का प्रयोग करता है, जिसे निजी व्यक्ति को संपति से वंचित किया जाता है, तो कानून में आम तौर पर निर्धारित मानदण्डों के अनुसार तय या निर्धारित मुआवजे का भुगतान करने का प्रावधान किया जाता है। इस संदर्भ में यह समझा जाना चाहिये कि राज्य के नीति निर्देशक तत्व को आगे बढ़ाने में राज्य द्वारा सम्पत्ति का अधिग्रहण सार्वजनिक उद्देश्य के लिये निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण और कब्जे सहित समुदाय के भौतिक संसाधनों को वितरित करना था, इसके लिये जब्त की गयी सम्पत्ति के मालिक को बाजार मूल्य के भुगतान या क्षतिपूर्ति की आवश्यकता नहीं है। अर्जित सम्पत्ति के बदले बाजार मूल्य का भुगतान अधिग्रहण के लिये कोई पूर्व शर्त या अनिवार्य शर्त नहीं है। यह स्पष्ट रूप से समझा जाना चाहिये कि अधिग्रहण और राशि का भुगतान एक ही योजना का हिस्सा है और उन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। यह सच है कि मुआवजे की पर्याप्ता पर न्यायालय में सवाल नहीं उठाया जा सकता है लेकिन साथ ही मुआवजा भ्रामक नहीं हो सकता।

30. इसलिये उपरोक्त कारणों से याचिकाकर्ता के अधिवक्ता ने अपने तर्क को प्रमाणित करने के लिये जिन प्राधिकरणों पर भरोसा किया था कि परिसीमा अधिनियम, जिला न्यायाधीश पर लागू नहीं होगा, जिन्हे वन अधिनियम की धारा 17 के तहत शक्ति प्रदान की जा रही है, इस न्यायालय द्वारा स्वीकार्य नहीं है और इसलिये याचिकाकर्ताओं के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा भरोसा किये गये अधिकरणों के सम्बन्ध में दिया गया तर्क पूरी तरह से एक अलग संदर्भ में है और लागू नहीं होगा।

31. पक्षों के लिये संबंधित अधिवक्ताओं द्वारा अपने तर्कों की दृढ़ता में अपनाये गये उपरोक्त तर्क की जांच करने पर इस न्यायालय की राय है कि याचिकाकर्ताओं के विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ताओं द्वारा दिये गये तर्क के अनुसार जिला न्यायाधीश की

परिभाषा, जिसके पास अपीलीय शक्ति, 1927 के वन अधिनियम की धारा 17 में निहित है, उसके पास न्यायालय की शक्ति नहीं होगी और इसलिये धारा 29(2) के तहत परिसीमा अधिनियम का लागू होना इस न्यायालय द्वारा स्वीकार नहीं है और मैंने पाया कि जिला न्यायाधीश भारत के संविधान के अनुसार मुआवजे का निर्धारण करने वाली एक अदालत है, जो मुआवजे की पर्याप्तता और हकदारी के संबंध में साक्ष्य की जांच करने के बाद अपने न्यायिक अधिकारों का प्रयोग करता है। चूंकि यह नागरिकों के अधिकारों को निर्धारित करता है इसलिये इसमें न्यायालय के सभी प्रावधान है और धारा 29(2) लागू होगी।

32. इसके लिये तर्क यह है कि अगर भारत के संविधान को ध्यान में रखा जाये, विशेष रूप से प्रारम्भ के प्रावधानों के रूप में जो अनुच्छेद 19 (1) एफ के तहत प्राप्त हैं। जहां सम्पत्ति का अधिकार संविधान के तहत निहित और विचार किया गया था। बाद में इसे संविधान के 44वे संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा हटा दिया गया था और इसे अनुच्छेद 300ए के तहत निहित प्रावधानों के तहत संरक्षित किया गया, जिसे 44वे संविधान संशोधन अधिनियम,1978 द्वारा संविधान के अध्याय 5 में भी शामिल किया गया था, जिसमें प्रावधान किया गया था कि सम्पत्ति का मालिक, जो कि वर्तमान मामले में विवादित नहीं है, जो याचिकाकर्ता में निहित है, यदि उसकी सम्पत्ति पर हस्तक्षेप करना आवश्यक हो, तो केवल कानून के अधिकार के अनुसार ही किया जा सकता है और यही कारण है कि अधिनियम को अनुच्छेद 300ए में निहित प्रावधानों के दायरे में लाने के लिये याचिकाकर्ताओं की भूमि से वंचित करने के लिये राज्य को इसका सहारा लेना पड़ा है। वन अधिनियम, 1927 की धारा 4 को धारा 6 के साथ पढ़ा जाना चाहिये मतलब खतौनी में दर्ज याचिकाकर्ताओं की भूमि की आरक्षित वन के रूप में घोषणा संविधान के अनुच्छेद 300ए में वर्णित कानून की उचित प्रक्रिया के अनुसार होनी चाहिए।

33. परिसीमा के प्रश्न पर वापस लौटते हुये जैसा कि याचिकाकर्ताओं के वरिष्ठ अधिवक्ता द्वारा परिसीमा अधिनियम की धारा 29 (2) के तहत निहित प्रावधानों के आलोक में तर्क देने की मांग की गयी थी कि यह केवल वहां पर लागू होगा, जहां न्यायालय है और चूंकि अपीलीय शक्ति जिला न्यायाधीश को निहित है, अतः यह न्यायालय नहीं है, धारा 5 को परिसीमा अधिनियम की धारा 29(2), लागू नहीं होगा। उक्त तर्क स्वीकार्य नहीं है। इस कारण से कि संवैधानिक जनादेश के अनुसार भूमि का अधिग्रहण करना केन्द्रीय विधायिका यानि वन अधिनयम के तहत प्रदान की गयी कानून की प्रक्रिया का उचित और पूर्ण सहारा लेने के बाद और विशेष रूप से जब अपीलीय प्रावधान जिला न्यायाधीश के पास निहित हैं और जब ये उस भूमि के सम्बन्ध में मुआवजे की पर्याप्तता के निर्धारण के प्रयोजनों के लिये है, जिस पर कब्जा कर लिया

गया था। यह एक केन्द्रीय अधिनियम के तहत वैधानिक अपील में जिला न्यायाधीश की अदालत को निजी भूमि पर कब्जा करने के परिणामस्वरूप देय मुआवजे की पर्याप्तता निधारित करने और अपीलीय क्षेत्राधिकार में इसकी जांच के लिये न्यायिक अधिकार प्रदान करता है। मैं इस विचार का हूं कि धारा 17 के तहत जिला न्यायाधीश को अपील से निपटने के लिए अपीलीय शक्ति प्रदान की जाती है, जिसमें अचल सम्पत्तियों के लिये मुआवजे की पर्याप्तता के पहलू के निर्धारण के किसी व्यक्ति के अधिकार पर निर्णय लेने की शक्ति शामिल है, यह न्यायिक अधिकार का प्रयोग है और इसलिये इस न्यायालय की राय के अनुसार सामान्य खण्ड अधिनियम के तहत जिला न्यायाधीश को प्रमुख सिविल क्षेत्राधिकार का न्यायालय माना जायेगा और इसलिये सीमा अधिनियम की धारा 29(2) की उपधारा 2 के प्रावधान उत्तरदाताओं के लिये उपलब्ध होंगे, जहां विशेष कानून में, परिसीमा अधिनियम के प्रावधान, विशेष रूप से लागु न किये गये हों। इसलिये 31.12.2017 के आक्षेपित फैसले में, विविध केस संख्या 116/2017, को स्वीकार करते हुए, जो उत्तरदाताओं ने अपील को प्रस्तुत करने में देरी की माफी की मांग करते हुये प्रस्तुत की थी, यह मुख्य रूप से परिसीमा के सामान्य कानून पर निर्भर थी, और उपरोक्त चर्चा किये गये अनुपात पर आधारित थी, लेकिन कुछ समय के लिये भी अगर इसे ध्यान में रखा जाये तो इसकी भावना यह है कि यह अपील का योग्य निर्णय होना चाहिये था, जो राज्य द्वारा वन निपटान अधिकारी के निर्णय दिनांकित 08.06.2016 के विरूद्ध प्रस्तुत की गयी थी, जो उपर चर्चा की जा चुकी है, चूंकि यह एक ऐसे अधिकार का निर्धारण था जो संवैधानिक आदेश था, अतः परिसीमा अधिनियम की धारा 29 की उपधारा 2 के प्रावधान वर्तमान मामले की परिस्थितयों में उपलब्ध रहेगें और लागू होंगे। परिणामस्वरूप उपरोक्त कारणों से यह न्यायालय विद्वान वरिष्ठ अधिवक्ता के तर्क को स्वीकार नहीं करता है।

34. परिणामस्वरूप उपरोक्त कारणों से रिट याचिका विफल हो जाती है और खारिज कर दी जाती है।

35. हालांकि, लागत का कोई आदेश नहीं होगा।

(शरद कुमार शर्मा, जे0)